☐ बसन्तकुमार जैन शास्त्री

गृहस्थ साधक (श्रावक) की उपासना विधि—(आचार संहिता) पर जैनधर्म ने प्रारम्भ से ही बड़ा मनोवैज्ञानिक तथा समाजवादी चिन्तन किया है। विश्व के विभिन्न धर्मों के परिप्रेक्ष्य में उसकी तुलनात्मक उपयोगिता पर एक चिन्तन यहाँ प्रस्तुत है।

विश्वधर्मों के परिप्रेक्ष्य में जैन उपासक का साधना-पथ : एक तुलनात्मक विवेचन

☐

सुख : छलना : यथार्थ

जागतिक भाषा में जिसे सुख कहा जाता है, तत्त्व की भाषा में वह सुख नहीं सुखाभास है। वह एक ऐसी मधुर छलना है, जिसमें निमग्न मानव अपने आपको विस्मृत किये रहता है। यह सब मानव को तब आत्मसात् हुआ, जब उसने जीवन-सत्य में गहरी डुबकियाँ लगाईं। उसे अनुभूत हुआ, सुख कुछ और ही है, जिसका अधिष्ठान 'स्व' या आत्मा है। भौतिक पदार्थ तथा धन-वैभव आदि पर वह नहीं टिका है। इतना ही नहीं, वे उसके मार्ग में एक प्रकार का अवरोध है। क्योंकि इनमें सुख की कल्पना कर मानव इन पर अटकता है। उसकी सत्य-प्रवण गति कुण्ठित हो जाती है। जिसे हम सच्चा सुख कहते हैं, दर्शन की भाषा में मोक्ष, निर्वाण, ब्रह्मसारूप्य आदि शब्दों से उसे संज्ञित किया गया है। तत्त्वद्रष्टाओं ने उसे अधिगत करने का विधि-क्रम भी अपने-अपने चिन्तन के अनुसार प्रस्तुत किया है, जिसे साधना या अध्यात्म-साधना कहा जाता है।

भारत की गरिमा : साधना का विकास

अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में भारत की अपनी गरिमा है, विश्व में उसका गौरवपूर्ण स्थान है। यहाँ के ऋषियों, मनीषियों और चिन्तकों ने इस पहलू पर बड़ी गहराई से चिन्तन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं सतत अभ्यास द्वारा इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अनुभूतियाँ अर्जित कीं। उन द्वारा प्रदर्शित साधना पद्धतियों में इन सबका प्रतिबिम्ब हमें प्राप्त होता है। साधना के क्षेत्र में साधक की अपेक्षा से दो प्रकार का वर्गीकरण हुआ—संन्यासी, परिव्राजक या भिक्षु तथा गृही, गृहस्थ अथवा श्रावक या उपासक।

प्रथम कोटि में वे साधक आते हैं, जो सम्पूर्णतः अपने को आत्म-साधना या मोक्ष की आराधना में लगा देते हैं। दैहिक किंवा भौतिक जीवन उनके लिए सर्वथा गौण होता है तथा (अध्यात्म) साधनामय जीवन सर्वथा उपादेय या मुख्य। दूसरे वर्ग में वे व्यक्ति लिये गये हैं, जो लौकिक (गार्हस्थ्य) जीवन में समाविष्ट हैं, साथ ही साथ आत्म-साधना के अभ्यास में भी जितना शक्य होता है, संलग्न रहते हैं।

इन दोनों वर्गों के साधकों अर्थात् साधुओं और गृहस्थों के साधना-क्रम या अभ्यास-कोटि पर हमारे देश के तत्त्व-चिन्तकों ने अत्यन्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन कर विशेष प्रकार की आचार संहिताएँ निर्धारित की हैं, जिनका अवलम्बन कर साधक अपने गन्तव्य की ओर सफलता पूर्वक अग्रसर होते जायं।

भारतीय दर्शकों में जैन दर्शन का अनेक दृष्टियों से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन साधना-पद्धति भी अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ लिये हुए है, जिनके कारण उसकी उपादेयता त्रिकालाबाधित है। प्रस्तुत निबन्ध में विभिन्न धर्मों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा अभिमत गृहस्थ की साधना पद्धतियों के परिप्रेक्ष्य में जैन गृही या श्रावक की साधना पर तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन किया जायेगा।

वैदिक धर्म में गृहस्थाश्रम

वैदिक धर्म का आशय उन धर्म-संप्रदायों से है, जिनका मुख्य आधार वेद हैं तथा दार्शनिक दृष्टि से जो पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त), सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि से सम्बद्ध हैं। वैदिक धर्म मनुष्य के जीवन को चार भागों में बाँटता है, जिन्हें आश्रम कहा जाता है। आश्रम का सामान्य अर्थ आश्रय, ठहरने का स्थान या विश्राम करने का स्थान है। आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। पच्चीस वर्ष की आयु तक गुरुकुल में ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याभ्यास का समय इस आश्रम के अन्तर्गत है। तात्पर्य यह हुआ कि तब तक व्यक्ति सांसारिक जीवन में सफलता पूर्वक चलते रहने की क्षमताएँ अर्जित कर चुकता है। फलतः उसका लौकिक जीवन भारभूत न होकर आनन्दमय होता है। इससे आगे पचास वर्ष तक की आयु का कार्यकाल गृहस्थ आश्रम में लिया गया है, जिस पर हम आगे विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे। पचास से पचहत्तर वर्ष तक का काल वानप्रस्थ आश्रम का है, जो एक प्रकार से संन्यास के पूर्वाभ्यास का समय है। इससे आगे का सौ वर्ष तक का समय संन्यास का माना गया है।

वेद के ऋषि के निम्नांकित शब्द इस बात के द्योतक हैं कि तब **'शतायुर्वै पुरुषः'** के अनुसार मानव सौ वर्ष के जीवन की कामना करता था :—

"पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवामशरद : शतम्। अदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्॥[1]

अर्थात् सौ वर्ष तक हमारी चक्षु इन्द्रिय कार्यशील रहे, सौ वर्ष तक हम जीएं, सौ वर्ष तक श्रवण करें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक अदीन भाव से रहें। इतना ही क्यों, हम सौ से भी अधिक समय तक जीएं।

प्राचीन काल के आयु अनुपात के अनुसार यह वर्ष सम्बन्धी कल्पना है। इसलिए हम इसे इयत्ता मूलक निश्चित नहीं कह सकते, आनुपातिक कह सकते हैं।

गुरुकुल से निर्गमन : संसार में आगमन

जब ब्रह्मचारी अपना विद्याध्यन तथा भावी जीवन की अन्यान्य तैयारियाँ परिपूर्ण कर पुनः संसार में अर्थात् पारिवारिक या सामाजिक जीवन में आने को उद्यत होता है, तब वैदिक ऋषि उसे जो शिक्षाएँ देता है, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और उनमें उसके भावी लौकिक जीवन के लिए बड़े सुन्दर आदेश-निर्देश हैं। वे शिक्षाएँ इस प्रकार हैं :—

"वेद मनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्यन्यि प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देव पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।"[2]

ब्रह्मचारी! तुम सांसारिक जीवन में जा रहे हो। मैं जो कह रहा हूँ, उन बातों पर पूरा ध्यान रखना—सदा सच बोलना, धर्म का आचरण करना। जो तुमने पढ़ा है, उसमें प्रमाद मत करना, उसे भूल मत जाना। आचार्य को दक्षिणा के रूप में वाञ्छित धन देकर, गृहस्थ में जाकर सन्तति-परम्परा का उच्छेद मत करना—उसे संप्रवृत्त रखना।

ऋषि शिष्य को सदाचरण में सुस्थित करने के हेतु पुनः कहता है—सत्य में प्रमाद मत करना, धर्म में प्रमाद मत करना, पुण्य कार्यों में प्रमाद मत करना, ऐश्वर्यप्रद शुभ कार्यों में प्रमाद मत करना, स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करना, देव-कार्य तथा पितृ-कार्य में प्रमाद मत करना।

"ऋषि आगे कहता है—

"मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकम् सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि। ये के चास्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

च्छे, यासो ब्राह्मणाः, तेषां त्वया ऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । संविदा देयम् ।"[3]

अर्थात् माता को देवता समझना, पिता को देवता समझना । गुरु को देवता समझना । अतिथि को देवता समझना । जो अनवद्य—निर्दोष कार्य हों, वे ही करना, दूसरे (सदोष) नहीं । जो सुचरित—पवित्र कार्य हों, वे ही करना, दूसरे नहीं । जो हमारे लिए कल्याणकारी ब्राह्मण हों, उनका आसन आदि द्वारा आदर करना । श्रद्धा पूर्वक दान करना । अश्रद्धा से मत करना । अपनी सांपत्तिक क्षमता के अनुरूप दान देना । लज्जा से दान देना । भय से दान देना । विवेक पूर्वक दान देना ।

ऋषि की शब्दावली में एक ऐसे जीवन का संकेत है, जिसमें प्रेम, सद्भावना, सौजन्य, उदारता, सेवा और कर्तव्यनिष्ठा का भाव है । कहने का अभिप्राय यह है कि ऋषि ब्रह्मचारी को एक ऐसे गृही के रूप में जीने का उपदेश करता है, जो समाज में सर्वथा सुसंगत और उपयुक्त सिद्ध हो । वह एक ऐसा नागरिक हो, जो केवल अपने लिये ही नहीं जीए, प्रत्युत समष्टि के लिए जीए ।

तीन ऋण

वैदिक धर्म में एक बड़ी ही सुन्दर भावात्मक कल्पना है—प्रत्येक व्यक्ति पर तीन प्रकार के ऋण हैं—ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण । यज्ञोपवीत के तीन सूत्र—धागे इसके सूचक हैं ।

ऋषियों—द्रष्टाओं या ज्ञानियों ने अनवरत साधना द्वारा ज्ञान की अनुपम निधि अर्जित की है । प्रत्येक द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) जन का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह उस ज्ञान का परिशीलन करे, शास्त्राध्ययन करे । ब्रह्मचर्याश्रम में यह ऋण अपाकृत हो जाता है । ब्रह्मचारी गुरु से वेद, शास्त्र आदि का अध्ययन कर इस ऋण से मुक्त होता है ।

पितृऋण की अपाकृति गृहस्थाश्रम में होती है । गृही अपने पूर्व पुरुषों के श्राद्धतर्पण आदि करता है, जो पितृ-ऋण की शुद्धि के हेतु हैं । देव-ऋण से (गृहस्थ) वानप्रस्थ आश्रम में उन्मुक्ति होती है । क्योंकि देव-ऋण यज्ञ द्वारा देवताओं को आहुति देने से अपाकृत होता है । इस प्रकार तीनों ऋणों का उन्मोचन वानप्रस्थ आश्रम तक हो जाता है । तदन्तर संन्यास का विधान है । इसीलिए कहा है—

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।"

अर्थात् इन तीन ऋणों का अपाकरण—समापन कर अपना मन मोक्ष में लगाए ।

इस व्यवस्था के अनुसार "**आश्रमादाश्रमं गच्छेत्**" अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों को क्रमशः प्राप्त करना चाहिए, एक-एक आश्रम का यथा समय यथावत् रूप में निर्वाह करते हुए आगे बढ़ना चाहिए ।

एक अपवाद

यद्यपि वैदिक धर्म में आश्रम-व्यवस्था का विधान है परन्तु जहाँ किसी में वैराग्य का अतिशय का आधिक्य हो, उसके लिए अपवादरूप में इस व्यवस्था का अस्वीकार भी है । श्रुति में कहा गया है—"**यदहरेव विजेत् तददहरेव प्रव्रजेत्; ब्रह्मचर्याद्वा गृहाद्वा वनाद्वा ।**" अर्थात् जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन मनुष्य संन्यास ग्रहण कर ले । वह ब्रह्मचर्याश्रम से, गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से—जिस किसी आश्रम से ऐसा कर सकता है । आश्रमों के क्रमिक समापन का नियम वहाँ लागू नहीं होता । यह आपवादिक नियम है, वैधानिक नहीं । अतः इसके आधार पर संन्यस्त होने वाले व्यक्तियों के उदाहरण बहुत कम प्राप्त होते हैं ।

प्रजातन्तु अव्यवच्छिन्न रहे

ऊपर पितृऋण की जो बात आई है, उसके सन्दर्भ में इतना और ज्ञातव्य है कि वैदिक धर्म वंश परम्परा के निर्बाध परिचालन में विश्वास रखता है । यथाविधि सन्तानोत्पत्ति वहाँ धर्म का अंग माना गया है । पुत्र शब्द की व्याख्या में कहा गया है—**पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत इति पुत्रः** । अर्थात् जो अपने माता, पिता अथवा पूर्व पुरुषों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्राद्ध, तर्पण आदि के द्वारा पुन्नामक नरक से बचाता है, वह पुत्र है, इसे और स्पष्ट समझें—जिनके सन्तति नहीं होती, उन्हें जलांजलि, तर्पण, श्राद्ध आदि कुछ भी प्राप्त नहीं होता। उनकी सद्गति नहीं होती। यदि किसी के पुत्र न हो तो उसकी पूर्ति के लिए हिन्दू धर्म में अपने किसी पारिवारिक व्यक्ति के बच्चे को पुत्ररूप में ग्रहण करने की व्यवस्था है, जिसे दत्तक पुत्र कहा जाता है। इसका उद्देश्य विशेषतः यही है कि औरस पुत्र द्वारा करणीय धर्म-विधान वह सम्पादित करे। तैत्तिरीयोपनिषद् में **'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'** जो कहा गया है, उसके पीछे यही भाव है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् व्यक्ति विधिवत् विवाह करे, सन्तान उत्पन्न करे तथा पारिवारिक व सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करे।

गृहस्थ के पाँच महायज्ञ

यदि हम गहराई में जाएँ तो प्रतीत होगा कि जीवन में हिंसा का क्रम अनवरत चलता है। संन्यासी या भिक्षु तो उससे बहुत कुछ बचा रहता है परन्तु गृहस्थ के लिए ऐसा संभव नहीं है। मनु ने गृहस्थ के यहाँ पाँच हिंसा के स्थान (वध-स्थल) बतलाये हैं। उन्होंने कहा है—

"पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥"[३]

चूल्हा, चक्की, झाडू, ओखली तथा जल-स्थान इनके द्वारा गृहस्थ के यहाँ जीवों की हिंसा प्रायः होती ही रहती है इसलिए मनु ने इन्हें वध-स्थल कहा है।

इन पाँच स्थानों या हेतुओं से होने वाली हिंसा की निष्कृति या निवारण के लिए मनु ने पाँच महायज्ञों का विधान किया है—

"तासां क्रमेण सर्वासां, निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः, प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥"[५]

वे पञ्च महायज्ञ इस प्रकार हैं—

"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवौ बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥"[६]

ब्रह्म-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ तथा मनुष्य-यज्ञ—ये पाँच महायज्ञ हैं। द्विजाति जन अपनी अधीत विद्या औरों को पढ़ाए, यह ब्रह्म-यज्ञ है। अपने पितृगण का तर्पण करे, यह पितृ-यज्ञ है, हवन करना देव-यज्ञ है, बलि वैश्वदेव यज्ञ, भूत-यज्ञ है तथा अतिथियों का सत्कार मनुष्य-यज्ञ है।

बलि वैश्वदेव यज्ञ के सम्बन्ध में मनु ने कहा है—

"शुनां च पतितानां च, श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणं च, शनकैर्निर्विपेद् भुवि॥"[७]

कुत्ते, पतित मनुष्य, चाण्डाल, पापरोगी, कौए और कीड़े-मकोड़े—इनके लिए भोजन में से छः भाग करके धीरे से भूमि पर डाल देना बलि वैश्वदेव यज्ञ है।

यदि हम ध्यान से देखें तो इन पाँच महायज्ञों में तीन तो वे ही हैं, जिनका उपर्युक्त तीन ऋणों से सम्बन्ध है। उनके अतिरिक्त जो दो और हैं, उनका विशेष आशय है।

बलि वैश्वदेव यज्ञ से यह प्रकट है कि वैदिक धर्म ने नीच और पतित कहे जाने वाले प्राणियों के प्रति भी दया का बर्ताव करने का स्पष्ट निर्देश किया है और उसे भी उतना ही पवित्र माना है, जितना अध्यापन, तर्पण व हवन जैसे उच्च कार्यों को माना है। उसके लिए प्रयुक्त यज्ञ शब्द इसका द्योतक है।

अतिथि-सत्कार का भी वैदिक धर्म में बहुत बड़ा महत्त्व है। इसलिए उसे मनुष्य-यज्ञ कहा है। अतिथि के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिथिर्यस्य भग्नाशो, गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुस्कृतं दत्त्वा, पुण्यमादाय गच्छति ।।

अर्थात् अतिथि जिसके घर से निराश होकर लौट जाता है, वह उसे (उस गृहस्थ को) अपना पाप देकर तथा उसका पुण्य लेकर चला जाता है ।

यदि सूक्ष्मता में जाएँ तो पता चलेगा कि इसके पीछे समाज-विज्ञान की व्यापक भावना संलग्न है । यह स्वाभाविक है कि सर्वत्र प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है । एक अपरिचित व्यक्ति किसी अपरिचित स्थान में किसी अपरिचित व्यक्ति से स्नेह और श्रद्धापूर्वक सत्कृत और संपूजित होता है तो सहज ही उसके मन में यह भाव उभरता है कि उसके यहाँ भी कभी वैसा प्रसंग बनेगा तो वह सत्कार व आदर में कोई कमी नहीं रख छोड़ेगा । इससे मानव एक निःशंक तथा सुरक्षित भाव पाता हुआ सर्वत्र आ-जा सकता है, अपना कार्य कर सकता है । एक व्यापक मैत्री-भाव के उद्गम का यह सहज स्रोत है । इससे कोई भी व्यक्ति कहीं भी जाते हुए नहीं हिचकेगा कि वहाँ उसका कौन है ?

गृहस्थ और कर्म-योग

गीता में गृहस्थ को बड़ा मार्मिक व उपयोगी पथ-दर्शन दिया गया है । उसे कहा गया है कि यदि आसक्ति और मोह के बिना वह अपना कर्त्तव्य करता जायेगा तो उसे समझ लेना चाहिए कि इससे उसकी आत्म-साधना भी सधती जायेगी । उसका अनासक्त कर्म उसके लिए योग बन जायेगा । कर्म-योग के सन्दर्भ में श्रीकृष्ण ने बहुत जोर देकर कहा है कि जब तक देह है, इन्द्रियाँ हैं, तब तक कोई कर्म-शून्य नहीं हो सकता अतः कर्म करने में अपनी पद्धति को एक नया मोड़ देना होगा, जो मोह, ममता और आसक्त भाव से परे होगा । इस प्रकार कर्म करता हुआ मनुष्य कर्मों के लेप से अछूता रहेगा ।

निष्कर्ष-रूप में श्रीकृष्ण ने कहा है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।।
योगस्थः कुरु कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते ।।"[८]

अर्थात् कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है—तुम कर्म करने के अधिकारी हो, फल के नहीं । इसलिए कर्म के फल की आशा मत रखो । पर, साथ ही साथ यह भी ध्यान रखने की बात है कि कर्म-फल की आशा तो छोड़ दो पर अकर्मण्य मत बनो । सङ्ग—आसक्ति या आशा छोड़कर तुम योगपूर्वक—अनासक्त भाव से, कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करो । सफलता और असफलता की भी चिन्ता मत करो । दोनों में समान रहो । यह समत्व ही योग है ।

वैदिक धर्म के अनुसार गृही के साधक-जीवन का यह संक्षिप्त लेखा-जोखा है । पारिवारिक जनों के प्रति कर्त्तव्य, देवोपासना, दान, सेवा आदि और भी अनेक पहलू हैं, जिनका गृहस्थ के जीवन से बहुत सम्बन्ध है । पर, यहाँ उनका विस्तार करने का अवकाश नहीं है ।

विवेचन का सारांश यह है कि वैदिक धर्म के अनुसार सांसारिक कर्त्तव्य और आध्यात्मिक साधना—इन दोनों का समन्वित महत्त्व है । जैसे ब्रह्मचर्य यद्यपि आदर्श है पर गृही के लिए अपनी परिणीता पत्नी का सेवन धार्मिक दृष्टि से भी दोषपूर्ण नहीं है. ऋतुकालाभिगमन तो विहित भी है । कहने का आशय यह है कि संसार और निश्रेयस दोनों का वहाँ स्वीकार है । यही कारण है कि वैशेषिक दर्शन में धर्म की परिभाषा करते हुए लिखा गया है—

"यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।"[९]

अर्थात् जिससे लौकिक अभ्युदय या उन्नति तथा मोक्ष की सिद्धि हो, वह धर्म है ।

बौद्धधर्म में गृही उपासक

बौद्धधर्म में मज्झिम पडिपदा—मध्यम प्रतिपदा या मध्यम मार्ग कहा जाता है । भगवान बुद्ध ने अध्ययन तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपस्या के पश्चात् यह अनुभव किया कि जन-साधारण के लिए वही धर्म उपयोगी होगा, जो न अत्यन्त कड़ा हो और न अत्यन्त सरल। क्योंकि अत्यन्त कठोर या ऊँचे नियमों का परिपालन उनसे शक्य नहीं होगा तथा अत्यन्त साधारण कोटि के नियमों से कुछ विशेष सधेगा नहीं।

चार आर्य सत्य

भगवान बुद्ध ने जिस मध्यम-मार्ग मूलक धर्म की अवतारणा की, वह निम्नांकित वास्तविकताओं पर आधृत है—जगत् में दुःख है, जिसमें जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग, प्रियजनों का वियोग, अप्रिय पदार्थों का संयोग, अभीप्सित का अलाभ इत्यादि का समावेश हो जाता है।

दुःख की गहराई में जाते हैं तो पता चलता है कि उसका कोई न कोई कारण अवश्य है। कारण के जान लेने पर यह सम्भावित होता है कि उस दुःख को मिटाया जा सकता है। जब मिटाया जा सकता है तो उसका कोई विधि-क्रम भी होना चाहिए।

इन्हीं वास्तविकताओं को भगवान बुद्ध ने चार 'आर्य सत्य' के नाम से अभिहित किया—

१. दुःख, २. दुःख-समुदय, ३. दुःख-निरोध, ४. दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद्। कहा गया है, यह बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म है, क्षेम है, उत्तम शरण है। इसे अपनाने से प्राणी सब दुःखों से छूट जाता है, जैसे—

यो च बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति।
दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं॥
एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म सव्वदुक्खा पमुच्चति॥

इन गाथाओं में चार आर्य-सत्यों की चर्चा के साथ-साथ अष्टांगिक आर्य मार्ग की ओर संकेत किया गया है। उसे दुःख का उपशामक कहा गया है।

अष्टांगिक मार्ग

चौथे आर्य-सत्य (दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद्) के अन्तर्गत भगवान बुद्ध ने एक व्यवस्थित विधिक्रम या मार्ग दिया है, जिसका अवलम्बन कर साधक दुःख से छुटकारा पा सकता है। वही अष्टांगिक आर्य मार्ग है, जिसके निम्नांकित आठ अंग हैं—

१. **सम्यक् ज्ञान**—चार आर्य सत्यों को भली-भाँति समझ लेना।

२. **सम्यक् संकल्प**—समझ लेने के बाद मन में जमाने की बात आती है। वैसा किये बिना समझना विशेष हितकर नहीं होता। समझी हुई बात को मन में जमाने के लिए पक्का निश्चय करना पड़ता है। इसी का नाम सम्यक् संकल्प है।

३. **सम्यक् वचन**—सत्य बात कहना।

४. **सम्यक् कर्मान्त**—हिंसा, शत्रुता, दूषित आचरण आदि से बचते रहना। इन्हें कर्मान्त इसलिए कहा गया है कि ऐसा करने से कर्मों का अन्त होता है।

५. **सम्यक् आजीव**—न्याय-नीति पूर्वक आजीविका चलाना।

६. **सम्यक् व्यायाम**—सात्त्विक कर्मों के लिए निरन्तर उद्यमशील रहना।

७. **सम्यक् स्मृति**—लोभ आदि वृत्तियाँ चित्त को सन्तप्त करती रहती हैं, उनसे बचना।

८ **सम्यक् समाधि**—रागात्मक व द्वेषात्मक वृत्तियों से चित्त को हटाकर एकाग्र करना।

यह अष्टांगिक मार्ग बौद्ध धर्म में सर्वत्र स्वीकृत है। पर, हीनयान सम्प्रदाय के बौद्ध इस पर विशेष जोर देते हैं। महायान सम्प्रदाय में अष्टांगिक मार्ग का स्वीकार तो है पर उसका विशेष बल पारमिता-मार्ग पर है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'पारमिता' शब्द पारम्+इता से बना है, अर्थात् पार पहुँची हुई अत्युत्कृष्ट अवस्था। महायान सम्प्रदाय में छः पारमिताएं मुख्य मानी गई हैं, जो निम्नांकित हैं—

१. दान-पारमिता, २. शील-पारमिता (उत्कृष्ट सदाचार का पालन)—३. शान्ति पारमिता (क्षमाशीलता), ४. वीर्य पारमिता (अशुभ को त्याग कर शुभ के स्वीकार-हेतु अत्यन्त उत्साह), ५. ध्यान-पारमिता, ६. प्रज्ञा-पारमिता (सत्य का साक्षात्कार)।

बौद्ध धर्म का आचार की दृष्टि से सारा विस्तार इन तथ्यों पर हुआ है। इनके परिपालन की दृष्टि से बौद्ध साधक दो वर्गों में विभक्त है, भिक्षु और उपासक। भिक्षु इन आदर्शों का पूर्णतया पालन करने का संकल्प लेकर इस ओर उद्यमशील रहते हैं। वे स्वयं अपनी साधना में लगे रहने के साथ-साथ जन-जन को उस ओर अग्रसर करने के लिए उपदेश करते हैं। गृहस्थों या उपासकों के लिए भी अष्टांगिक मार्ग आदर्श है पर, वे उस ओर प्रयत्नशीलता की अवस्था में होते हैं, जबकि भिक्षु सम्पूर्णतः परिपालन की स्थिति में। भिक्षुओं के लिए आहार, विहार, भिक्षा, वस्त्र, अन्यान्य उपकरण आदि का ग्रहण, प्रयोग प्रभृति के सन्दर्भ में एक आचार-संहिता है, जिसका विनयपिटक में विस्तृत विवेचन है। बौद्ध परम्परा में 'विनय' शब्द आचार के अर्थ में है। 'विनयपिटक' संज्ञा इसी आधार पर है।

प्रव्रज्या सावधिक : निरवधिक

बौद्ध धर्म में एक विशेष बात और है। वहाँ भिक्षु-दीक्षा या संन्यास-प्रव्रज्या एकान्त रूप से समग्र जीवन के लिए हो, ऐसा नहीं है। वहाँ दो प्रकार के भिक्षु होते हैं। एक वे, जो जीवन भर के लिए भिक्षु-संघ में आते हैं। दूसरे वे, जो समय-विशेष के लिए भिक्षु-जीवन में प्रव्रजित होते हैं। वह समयावधि वर्षों, महीनों अथवा दिनों की भी हो सकती है।

प्रत्येक बौद्ध उपासक अपने मन में यह आकांक्षा रखता है कि कम से कम जीवन में एक बार, चाहे थोड़े ही समय के लिए, भिक्षु बनने का सुअवसर उसे मिले। वह निर्धारित समय तक भिक्षु रहकर पुनः अपने गृहस्थ-जीवन में ससम्मान वापिस आ सकता है। वह तथा उसके पारिवारिक-जन अपना सौभाग्य मानते हैं कि कुछ समय तक तो एक व्यक्ति का जीवन भिक्षु के रूप में व्यतीत हुआ। वैदिक तथा जैन धर्म में ऐसा नहीं है। वहाँ सन्यास-दीक्षा जीवन भर के लिए होती है। उसे वापिस लौटना हेय माना जाता है। वैदिक धर्म में जब कोई व्यक्ति संन्यास में दीक्षित होता है, तो इस बात के प्रतीक के रूप में कि वह अपने विगत जीवन को समाप्त कर सर्वथा नये जीवन में जो पिछले से बिल्कुल अस्पृष्ट है, आ रहा है, अपनी चिता तैयार करता है, जिसका तात्पर्य है कि उसका पिछला शरीर भी जल गया है।

बुद्ध ने जो सावधिक भिक्षु-जीवन की स्वीकृति दी, उसके पीछे उनका यही अभिप्राय रहा हो कि थोड़े समय के लिए ही सही सद् वस्तु का ग्रहण तो हुआ। इस पर बुद्ध के मध्यम मार्ग के दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। पर, एक बात अवश्य है, संन्यास की दिव्य तथा पावन स्थिति इससे व्याहत होती है। जो एक क्षण भी संन्यस्त जीवन के परवस्तुनिरपेक्ष सहज आनन्द का आस्वाद अनुभव कर चुका है, क्या वह उसे छोड़ सकता है, उधर से हट सकता है, यह बहुत गहराई से चिन्तन का विषय है।

उपासक के कर्त्तव्य

मज्झिम-निकाय में जहाँ गृहस्थ (गृही उपासक) के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है, वहाँ चार कर्म-क्लेश बताये गये हैं। उन्हें कर्म-मल भी कहा गया है, जो इस प्रकार हैं—

१. **प्राणातिपात**—प्राणियों का वध करना।

२. **अदत्तादान**—किसी द्वारा नहीं दी गई वस्तु ग्रहण करना अर्थात् चोरी करना।

३. **परदार-गमन**।

४. **मृषावाद**—असत्य-भाषण करना।

वहाँ पाप के चार स्थानों का भी वर्णन है, जो छन्द, द्वेष, मोह और भय के रूप में व्याख्यात हुए हैं। अर्थात् छन्द—राग, द्वेष, मोह तथा भय के कारण अनेकविध पाप-कर्मों में प्रवृत्त होना इन-इन स्थानों से सम्बद्ध माना गया है। वहीं पर छः अपाय-मुखों का वर्णन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. मदिरा-पान।
२. सन्ध्या के समय चौरस्ते पर घूमना।
३. नृत्य, खेल-तमाशा आदि देखना।
४. द्यूत-क्रीडा करना।
५. दुष्ट से मित्रता करना।
६. आलस्य-रत रहना।

इन्हें अपाय-सुख कहने के पीछे यह भाव रहा है कि बाह्य दृष्टि से ये सुख प्रतीत होते हैं किन्तु इनका परिणाम भीषण दुःख है।

इनके सम्बन्ध में उपदेश किया गया है कि आर्य श्रावक या उपासक इन चौदह (चार कर्म-क्लेश, चार पाप-स्थान तथा छः अपाय सुख=चौदह) प्रकार से होने वाले पापों से बचे। ऐसा करने वाला लोक और परलोक दोनों को जीत लेता है।

करुणा पर विशेष बल

उपासक के लिए बौद्ध धर्म में करुणा या दया पर बहुत जोर दिया गया है। आर्य उपासक को इतना करुणाशील होना चाहिए कि उसे अपने-पराये का भान तक न रहे।

करुणा के तीन प्रकार बताये गये हैं—

१. **स्वार्थमूला करुणा**—जैसे माता की पुत्र के प्रति।
२. **सहेतुकी करुणा**—किसी को कष्ट में देखा, हृदय द्रवित हुआ, करुणा-भाव जागा, इस कोटि की।
३. **अहेतुकी करुणा**—बिना स्वार्थ, बिना कारण तथा पात्र, अपात्र के भेद के बिना प्राणी मात्र के प्रति होने वाली।

अहेतुकी करुणा को 'महाकरुणा' कहा जाता है। बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय में इसका बहुत विकास हुआ।

ईसाई धर्म में साधक के वर्ग

ईसाई धर्म का मुख्य आधार प्रेम व दया है। मुख्यतः वही भगवान की प्राप्ति का माध्यम है। उसी से ईसाई धर्म में सेवा-भाव का विकास हुआ, जिसका संसार में अपना अद्वितीय स्थान है।

ईसाई धर्म में प्रारम्भ से ही साधकों की दो श्रेणियाँ चली आती हैं। एक वह है, जो धर्म की शिक्षा और प्रेरणा देती है, सांसारिक जीवन से पृथक् रहती है, जिसे भारतीय धर्मों की परिभाषा में संन्यासी या साधु कह सकते हैं। दूसरी श्रेणी जन-साधारण या नागरिक अनुयायियों की है, जो गृहस्थ या पारिवारिक जीवन जीते हैं। त्यागी वर्ग के पुरुष फादर (Fathers) कहे जाते हैं और स्त्रियाँ नन (Nuns)। सादा और सरल जीवन जीते हुए, धर्म-प्रसार करते हुए जन-जन की सेवा में लगे रहना, उस ओर अपने अनुयायियों को प्रेरित करना उनका मुख्य कार्य है। उनके दैनन्दिन जीवन-व्यवहार के सन्दर्भ में अपनी आचार-संहिता है।

ईसाई-धर्म में मुख्यतः दो सम्प्रदाय हैं—रोमन कैथोलिक और प्रोटैस्टैन्ट। रोमन कैथोलिक प्राचीन है, प्रोटैस्टैन्ट पश्चाद्वर्ती। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में यह त्यागी वर्ग—फादर्स व नन्स अविवाहित रहते हैं। उनके किसी प्रकार का गृहस्थ-सम्बन्धी लगाव नहीं होता। प्रोटैस्टैन्ट सम्प्रदाय में उन्हें (Fathers, nuns को) विवाह की सुविधा है।

गृहस्थ अनुयायी

गृहस्थ अनुयायियों के लिए ईसाई धर्म में अध्यात्म-साधना का कोई विशेष सूक्ष्म अभ्यास-क्रम नहीं मिलता। ईश्वर की प्रार्थना में वे विश्वास करते हैं। सप्ताह के सात दिनों में एक-रविवार का दिन इसके लिए विशेषतः निर्धारित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईसाई धर्म मुख्यतः नीति एवं सद्व्यवहार प्रधान है। ईसा मसीह ने मानव-समाज को विशेषरूप से पाँच आदेश दिये—

(१) पुराने धर्मग्रन्थ में कहा है कि 'किसी की हत्या मत करो' जो आदमी हत्या करता है, वह गुनहगार है।

पर, मैं तुमसे कहता हूँ कि जो आदमी अपने भाई पर गुस्सा करता है, वह परमात्मा की नजर में गुनहगार है। प्रार्थना करने से पहले अपने भाई पर मन में जो क्रोध हो, उसे निकाल दो। उससे सुलह करलो।

(२) मैं तुमसे कहता हूँ कि व्यभिचार तो करना ही नहीं चाहिए, किसी स्त्री पर बुरी नजर भी नहीं डालनी चाहिए। किसी पर कुदृष्टि डालने वाला भी ईश्वर के आगे गुनहगार है। जो आदमी पत्नी को तलाक देता है, वह खुद व्यभिचार करता है और पत्नी से भी व्यभिचार कराने का कारण बनता है, जो आदमी उससे विवाह करता है, उसे भी वह गुनहगार बनाता है।

(३) पुराने धर्म-ग्रन्थ में कहा है कि 'कसम न खाओ किन्तु परमात्मा के आगे अपनी प्रतिज्ञाओं पर डटे रहो।'

पर, मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें किसी भी हालत में कसम नहीं खानी चाहिए। किसी के बारे में पूछा जाय तो 'हां' या 'ना' में जवाब देना चाहिए।

(४) पुराने धर्म-ग्रन्थ में कहा है कि 'आँख के बदले में आँख फोड़ दो, दाँत के बदले दाँत तोड़ दो।'

पर मैं तुमसे कहता हूँ कि बुराई का बदला बुराई से मत दो। कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर चाँटा मारे, तो तुम बाँया गाल भी उसके सामने कर दो।

(५) पुराने धर्म-ग्रन्थ में कहा है कि 'केवल अपनी ही जाति के लोगों से प्रेम करो।'

पर मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें हर आदमी से प्रेम करना चाहिए। जो तुम्हारे दुश्मन हों, उनसे भी प्रेम करना चाहिए। सभी मनुष्य एक ही पिता की सन्तान हैं। सब भाई-भाई हैं।[१०] सबके साथ तुम्हें प्रेम का व्यवहार करना चाहिए।"

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि ईसाई धर्म के अनुसार गृही साधकों का आदर्श यह हो कि वे सबके साथ मैत्री से रहें, सात्त्विक-दृष्टि हों, वचन के धनी हों, बदले की भावना न रखें, सबसे प्रेम करें।

जैसा कि पहले कहा गया है, ईसाई धर्म में सेवा का बड़ा महत्त्व है। प्रभु की प्रसन्नता का यह मुख्य कारण है। यहाँ तात्त्विक दृष्टि से एक बात विशेष विचारणीय है, ईसाई धर्म के अनुयायियों में सेवा की जो इतनी विराट् भावना पनप सकी, उसका वास्तविक प्रेरक हेतु क्या है? गहराई में जाने से प्रतीत होता है कि सेवा करने वाला ईसाई अपने मन में यह भावना लिये रहता है कि उसकी सेवा के परिणामस्वरूप लाभान्वित व्यक्ति स्वयं उसके धर्म में प्रविष्ट होगा, जो उसके लिए सच्चा धर्म है। एक ईसाई की लोक-सेवा में जो अत्यधिक तन्मयता देखी जाती है, उसके पीछे यही मुख्य तात्त्विक हेतु है। दार्शनिक दृष्टि से यह उपयोगितावादी, दूरदर्शितापूर्ण चिन्तन है, जिसका परिणाम भारत, अफ्रीकन देश आदि विश्व के अनेक भागों में स्पष्ट देखा जा सकता है। ईसाई धर्म के अत्यधिक विस्तार का भी मुख्य कारण इसे ही कहा जा सकता है।

अन्यान्य धर्मों में गृहस्थ की धार्मिक स्थिति

सर्वप्रथम भारतीय धर्मों में सिक्ख धर्म पर कुछ विचार करें। दार्शनिक दृष्टि से इसे हिन्दू धर्म से पृथक् नहीं कहा जा सकता। जिस अकाल पुरुष या निराकार परमात्मा की उपासना का जो स्वरूप सिक्ख धर्म के प्रवर्त्तक गुरु नानकदेव ने बताया, वह या वैसा—विवेचन-भेद से हमें उपनिषद्-वाङ्मय में प्राप्त होता है। पर, व्यवहारतः धर्मों की गणना में इसे एक स्वतन्त्र धर्म गिना जाता है। गुरुनानकदेव का चिन्तन तात्त्विक दृष्टि से कुछ-कुछ इसी सरणि का था, जैसा कबीर आदि निर्गुणोपासक सन्तों का था। यही कारण है कि गुरु ग्रन्थ साहब में कबीर, रैदास आदि सन्तों की वाणी का भी समावेश है। सन्त मत में जिस प्रकार संन्यास का कोई स्थान नहीं है, सिक्ख धर्म में भी वैसा ही है। गुरु पद पर अधिष्ठित व्यक्ति भी गृहस्थ ही होते रहे हैं।

गुरुनानकदेव ने अपने अनुयायियों को तीन आदेश—आचरण के तीन सूत्र दिये, जो इस प्रकार हैं :—

"(१) नाम जपो, (२) किरत करो और (३) वण्ड के छको। पसीने की कमाई मिल बाँटकर खाओ। जो ऐसा करते हैं, उन्हीं को वाह गुरु का, परम प्रभु का प्रसाद मिलता है।"[११]

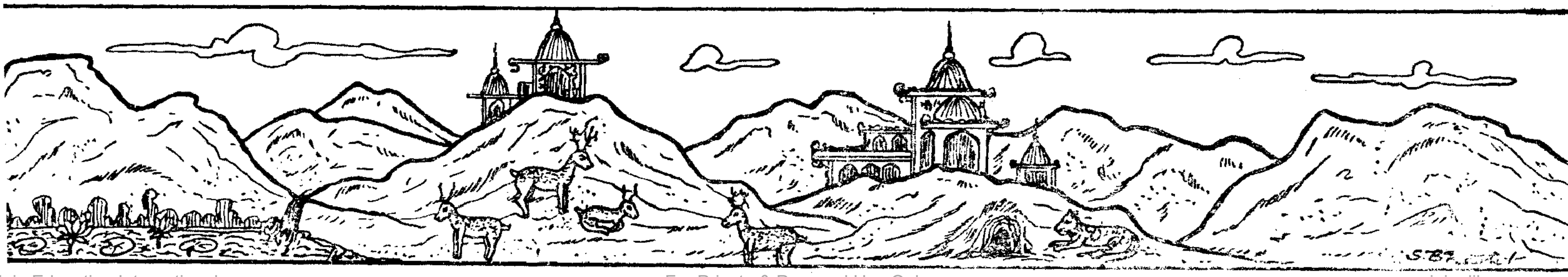

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवत्-नाम-स्मरण, तद्गुणकीर्तन तथा सेवा-भाव का यहाँ स्पष्ट निर्देश है, जो सिक्ख-धर्म के विचारात्मक तथा आचारात्मक पक्ष की मूल भित्ति है।

जरथुश्त्र—पारसी धर्म के लोग ईरान से लगभग बारह शताब्दी पूर्व भारत में आये। उनका भारत-आगमन जहाँ एक ओर व्यावसायिक दृष्टि से था, वहाँ दूसरी ओर अरब द्वारा होने वाले धार्मिक आक्रमणों से बचने के हेतु भी था। ऋग्वेदकालीन वैदिक धर्म की छाप इस धर्म पर है। इस धर्म में, जिस रूप में आज यह प्राप्त है, संन्यासी और गृही के रूप में वर्ग-भेद नहीं है। धार्मिक पूजा-उपासना में मार्ग-दर्शन करने वाला पुरोहित-वर्ग अवश्य है, जिसमें गृहस्थ होते हैं। इनकी हम वैदिक धर्म के ब्राह्मण-पुरोहितों से तुलना कर सकते हैं।

पारसी-धर्म में एक धर्माराधक मानव के जो कर्त्तव्य बतलाये गये हैं, वे निम्नांकित हैं :—

"सबसे प्रेम करे। सबकी सेवा करे। ईश्वर की पूजा-उपासना करे। देवताओं और सन्तों का आदर करे। सभी सत्कर्मों में मदद करे। उनमें हाथ बँटाये। सभी भले पशुओं की रक्षा करे। उन पर दया करे। दान दे। सब पर करुणा करे। न्याय पर चले। श्रम करे। अपने पैरों पर खड़ा हो। असत् से सदा दूर रहे। बुराइयों को नष्ट करे। ईश्वर पर विश्वास रखकर सत् का सदा समर्थन करते रहने से मनुष्य अपना कर्त्तव्य पूरा कर सकता है।"[१२]

इस्लाम धर्म में जो विचार और आचार-क्रम स्वीकृत है, उनके अनुसार शुरू से ही संन्यासी और गृहस्थ जैसा भेद नहीं है। इसके प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब स्वयं एक गृहस्थ थे। उनके उत्तराधिकारी खलीफा जहाँ धर्म-नायक थे, वहाँ शासक भी थे। वे भी गृहस्थ ही थे।

इस्लाम धर्म में अपने हर अनुयायी या मुसलमान के लिए चार इबादतें आवश्यक बतलाई गई हैं, जो इस प्रकार हैं :—

१. हर रोज फज्र, जुहर, अस्र, मगरिब और इंशा—इन पाँच वक्तों पर नमाज कायम करे।
२. रमजान के महीने भर रोजा रखे।
३. अल्लाह की राह में कम से कम ढाई फीसदी खैरात करे, जकात दे।
४. हो सके तो जिन्दगी में एक दफा हज करे, मक्का, खान ए काबा की जियारत करे।"[१३]

आचार-व्यवहार की दृष्टि से सत्य बोलना, मधुर बोलना, किसी की निन्दा नहीं करना, अभिमान नहीं करना, परिश्रम की कमाई खाना, ईमानदारी बरतना, चुगली, चापलूसी नहीं करना, शराब नहीं पीना, ब्याज नहीं लेना, व्यभिचार नहीं करना, कंजूसी नहीं करना, किसी का धन नहीं हड़पना आदि के रूप में अनुयायियों को अनेक शिक्षाएँ दी गई हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि समाज-संगठन, गृहस्थ-जीवन के सुव्यवस्थित निर्वाह, सामाजिक भाव आदि की दृष्टि से इस्लाम में ये महत्त्वपूर्ण बातें अवश्य हैं, आध्यात्मिक प्रगति, साधना, अभ्यास-क्रम आदि के सन्दर्भ में वहाँ कोई विशेष विश्लेषण प्राप्त नहीं होता।

जैसा कि पहले कहा गया है, इस्लाम धर्म में केवल एक ही गृहस्थों का वर्ग है, वहाँ संन्यास के लिए कोई स्थान नहीं है। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि जिन्हें यथावत् रूप में इस्लाम के प्रतिनिधि तो नहीं कह सकते पर उसी की उत्तरवर्ती शृंखला में सूफी सन्तों की परम्परा आती है, जो (सूफी सन्त) अद्वैत वेदान्त और इस्लाम का समन्वित आधार लिये हुए वासनात्मक प्रेम को भगवत्प्रेम में रूपान्तरित कर निराकारोपासना का सन्देश दे रहे थे। वे त्यागी फकीरों के रूप में थे। पर, एक धर्म-सम्प्रदाय के रूप में उनका स्थायित्व नहीं बना।

जैन धर्म में गृहस्थ की साधना

जैन धर्म का मुख्य आधार सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र है। इन्हीं की आराधना मोक्ष का मार्ग[१४] है। जैन धर्म आचार-पालन के भेद से दो रूपों में विभक्त होता है—महाव्रत एवं अणुव्रत।[१५]

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच व्रत हैं। जब कोई साधक इनका बिना किसी अपवाद के सम्पूर्ण रूप से परिपालन करता है, तब इनके साथ 'महा' विशेषण जुड़ जाता है। इनके सम्पूर्ण निरपवाद स्वीकार की भाषा इस प्रकार बनती है, जैसे—मैं हिंसा नहीं करूँगा, हिंसा नहीं कराऊँगा, हिंसा का अनुमोदन नहीं करूँगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर मन, वचन तथा काय को जोड़कर प्रत्येक के तीन-तीन भंग बनाये जाते हैं। जैसे—मैं मन से हिंसा नहीं करूँगा, मन से हिंसा नहीं कराऊँगा, मन से हिंसा का अनुमोदन नहीं करूँगा। यही क्रम वचन व काय के साथ जोड़ना होगा। यों नौ भंग या नौ कोटियाँ बनेंगीं, अतः यह (महाव्रत सम्बन्धी) नव कोटि प्रत्याख्यान कहा जाता है।

यह तो एक उदाहरण है, पाँचों महाव्रतों में यही क्रम लागू होता है। इस प्रकार इन पाँचों महाव्रतों को ग्रहण कर उनका यथावत् रूप में जो परिपालन करता है, वह मुनि, साधु या श्रमण कहा जाता है।

ये पाँच व्रत जब परिपालन की क्षमता की अपेक्षा से तरतमतापूर्वक स्वीकार किये जाते हैं अर्थात् विविध अपवादों के साथ ग्रहण किये जाते हैं, तब ये अणुव्रत कहलाते हैं। 'अणु' शब्द यहाँ 'महा' की अपेक्षा छोटे का द्योतक है।

अणुव्रतों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

जैन तत्त्व-द्रष्टाओं ने अणुव्रतों की जो संघटना की है, उसके पीछे उनका अत्यन्त सूक्ष्म, वैज्ञानिक चिन्तन है। इस पर हम जरा गहराई से विचार करें। संसार में जितने व्यक्ति हैं, उन सब की रुचि, शक्ति, क्षमता, उत्साह आदि में भिन्नता है। किस मार्ग पर कौन, कितना, किस रूप में चल सकता है, इस बात का निर्णय चलने वाला अपनी शक्ति को तौलकर करता है। उपदेश, प्रेरणा इत्यादि जो भी उसे मिले पर उनका अनुवर्तन या अनुसरण उससे उतना ही सधेगा, जितनी शक्तिमत्ता उसमें है। यही कारण है कि अणुव्रतों के स्वीकार में जो अपवाद सम्बन्धी विकल्प बनते हैं, वे इयत्ता की परिसीमा में नहीं आते। हिंसा या असत्य आदि के वर्जन में उपासक अपनी-अपनी स्थितियों और क्षमताओं के अनुरूप नियम ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ सौ व्यक्ति सौ प्रकार से त्याग—असत् के ग्रहण का परिसीमन कर सकते हैं। यह सहस्रों से भी अधिक प्रकार के विकल्पों में किया जा सकता है।

इसका दार्शनिक प्रतिफल यह होता है कि एक साधनोन्मुख गृहस्थ यथारुचि, यथाशक्ति अपने को साधना में जोड़ सकता है। फिर ज्यों-ज्यों उसकी अभिरुचि, उत्साह, अध्यवसाय, उद्यम, क्षमता विकसित होती जाती है, त्यों-त्यों वह अपने आपवादिक विकल्पों की सीमा कम करता जाता है। फलतः व्रत का स्वीकार-पक्ष बढ़ता जाता है। यह क्रम अनेक व्यक्तियों में अनेक प्रकार से अनेक रूपों में घटित होता है। सचमुच यह बड़ा वैज्ञानिक क्रम है। इससे साधक को आगे बढ़ने के लिए एक उन्मुक्त, निर्बन्ध एवं निर्द्वन्द्व विशाल राजपथ प्राप्त होता है, जहाँ किसी भी प्रकार का अवरोध आगे नहीं आता।

बहुत अधिक विकल्पों के साथ व्रत विशेष को स्वीकार करते गृही साधक को देख सहसा वह व्यक्ति, जो बहिर्द्रष्टा है, कह सकता है कि यह कैसा त्याग है? पर गहराई में जाने पर स्वतः उसकी समझ में आ जायेगा कि सत् का अल्पतम स्वीकार भी इतनी उन्मुक्त सरणि में है कि वह अल्पतमता घटते-घटते अल्प से आगे बृहत् या महत् तक आ सकती है। अणुव्रतों की इस वैज्ञानिक परम्परा पर जितनी सूक्ष्मता से चाहिए, उतना चिन्तन अभी तक नहीं किया जा सका है। विश्व के प्रमुख धर्मों के आचार एवं साधना-पक्ष के परिप्रेक्ष्य में अणुव्रतों पर विशेष तथा विशद परिशीलन किया जाना चाहिए।

वैदिक धर्म की आश्रम-परम्परा के विवेचन के सन्दर्भ में हमने देखा कि वहाँ एक गृही साधक के लिए जो उपदेश व कार्यक्रम दिया गया है, प्रथमतः तो आचारमूलक है, प्रथामूलक है। जो उसमें साधना व प्रत्याख्यान का पक्ष है, वह सबके लिए समान है। वैयक्तिक भिन्नता, जिसका आधार क्षमता, लगन, अध्यवसाय, पुरुषार्थ आदि हैं, उससे कैसे संगत हो सकेगी? अर्थात् भिन्न-भिन्न योग्यताओं के व्यक्ति उस एक ही सरणि का अवलम्बन कर क्या आगे बढ़ने में विघ्न, अवरोध या बाधा अनुभव नहीं करेंगे? यह बड़ा विवेच्य विषय है।

पीछे सांकेतिक रूप में जिन धर्मों के सम्बन्ध में हमने चर्चा की, उनमें अधिकांश ऐसे हैं, जहाँ संन्यासी और गृही के रूप में विशेष भेद दृष्टिगत नहीं होता। बौद्ध परम्परा पर जरा विचार करें। वहाँ भिक्षु और गृही के रूप में दो वर्गों का अस्तित्व स्पष्ट है। दोनों का गन्तव्य पथ अत्यन्त भिन्न या तरतमतापूर्ण नहीं है। एक गृही उपासक के नियमोपनियम जिस रूप में परिगठित है, उनमें लौकिक जीवन के सम्मार्जन, परिष्कार एवं सुष्ठुता का भाव अधिक है, साधना कम। यद्यपि प्रज्ञा-पारमिता आदि के रूप में एक ज्ञानप्रधान उच्च साधना-पक्ष भी आचार-शोधक पक्ष के साथ-साथ विशेषतः स्वीकृत है परन्तु उस पर आरूढ़ होने, उत्तरोत्तर अग्रसर होने के हेतु क्षमतानुरूप ऊर्ध्वगामी वैज्ञानिक मार्ग अप्राप्य है, जिसके अवलम्बन के बिना श्रेयःपरक विकास और प्रगति कैसे सम्भव हो सकती है?

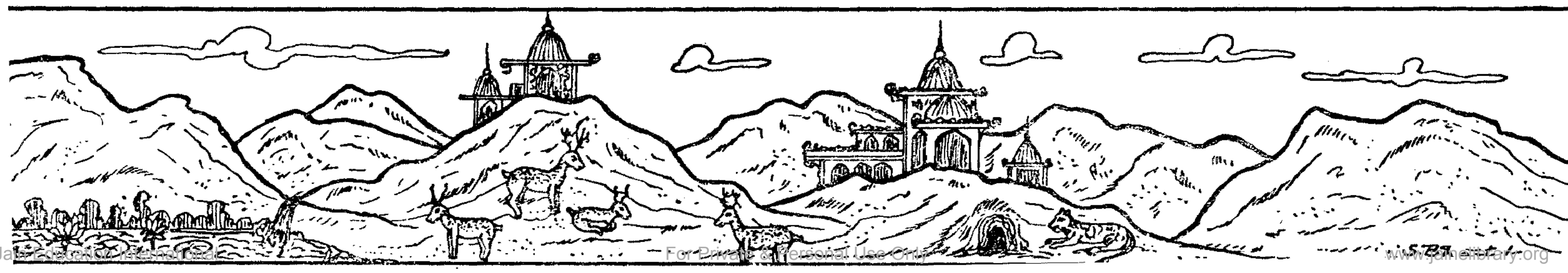

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रत : क्रियान्विति : अतिचार : स्थिरता

अणुव्रतों के परिचालन में साधक क्रमशः अपनी दुर्बलताओं को जीतता हुआ उस ओर सफलतापूर्वक अग्रसर होता जाए, इस परिप्रेक्ष्य में व्रतों के साथ सम्बद्ध अतिचारों का परिशीलन बहुत उपयोगी है। जो व्रत जिन प्रत्याख्यानात्मक परिसीमाओं पर आधृत हैं, उनके परिपन्थी या प्रतिकूल कार्य, जो उन (व्रतों) पर सीधी चोट करते हैं, अतिचार कहे गये हैं। जैसे अहिंसा-व्रत के अतिचार इस प्रकार हैं :—

"बन्धवधच्छविच्छेदाऽतिभारारोपणाऽन्नपाननिरोधाः।"[16]

बन्ध, वध, छवि-छेद, अतिभारारोपण तथा अन्न-पान का निरोध—अहिंसा अणुव्रत के ये पाँच अतिचार हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :—

(१) **बन्ध**—कोई प्राणी अपने अभीप्सित स्थान की ओर जा रहा है, उसे बाँधकर रोक दिया गया। उसकी अभीप्सा पूर्ति में बन्धन आया। यह बन्ध अतिचार है।

(२) **वध**—वध शब्द यहाँ पारिभाषिक है। वह जान से मारने के अर्थ में नहीं है। डण्डे या कोड़े आदि से पीटने के अर्थ में है।

(३) **छवि-छेद**—किसी के अंगों को काटकर या नष्ट कर उसे कुरूप बना देना। जैसे किसी का नाक, कान आदि काट देना, चमड़ी को गोदना, छेदना आदि।

(४) **अतिभार आरोपण**—मनुष्य या पशु पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना, यों उसे दुःखी बनाना इस अतिचार के अन्तर्गत है।

(५) **अन्न-पान निरोध**—अपने आश्रित या अनाश्रित व्यक्ति के भोजन-पानी में बाधा डालना।

अहिंसा अणुव्रत की तरह सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह अणुव्रत के भी ऐसे ही अतिचार[17] हैं, जिनकी उन-उन व्रतों में निहित भावना के प्रतिकूल कार्यों के साथ संलग्नता है। अर्थात् ऐसे निन्द्य कार्य, जो उन-उन व्रतों की पवित्रता को परिम्लान करते हैं, का वहाँ समावेश है। अतिचारों का अनुशीलन हेय के परिवर्जन और उपादेय के संचयन की अन्तर्वृत्ति को स्थायित्व देने में बहुत सहायक होता है। अतिचारों की परिकल्पना परिहेयतामुखी है। परिहेय कार्यों की परिवर्ज्यता के माध्यम से व्रतों के सत्-स्वरूप में अवस्थित रहने का एक सक्रिय दिशा-बोध इनसे प्राप्त होता है।

गृही साधक जब सायंकाल प्रतिक्रमण करता है, तब इनके सम्बन्ध में आलोचना करता है, ज्ञात-अज्ञात रूप में आचीर्ण दोषों के लिए पश्चात्ताप करता है, जिससे उसकी मनोवृत्तियों व्रत-पालनमुखी सक्रियता तथा स्फूर्ति सजग रहे।

गुणव्रत : सूक्ष्म चिन्तन के परिचालक

अणुव्रतों के विकास और परिपोषण के लिए जैन गृही की साधना-पद्धति में तीन गुणव्रत स्वीकार किये गये हैं। इसे यों भी समझा जा सकता है कि अणुव्रतों के अनुसरण से जो गुणात्मक निष्पत्ति होती है, इन गुणव्रतों में उसका समावेश है। वे इस प्रकार हैं—

(१) दिशा-विरति (२) अनर्थ-दण्डविरति

(३) देशावकाशिक।

दिशा-विरति—मानव की क्रिया-प्रक्रिया का मुख्य आधार एषणा या कामना है, इनका जगत जितना विस्तृत होगा, उसी अनुपात पर क्रिया विस्तार मानी जायेगी। एषणा या संयमन-नियमन के आधार पर इस गुणव्रत की सृष्टि हुई है। इसके अनुसार एक अणुव्रती या गृही साधक व्यापार व्यवसाय आदि के क्षेत्र को परिमित करता है। वह स्थानिक या क्षेत्रीय दृष्टि से अपने कार्य को परिसीमित करता है। उसकी विरति की भाषा यों बनती है कि वह ऊपर, नीचे तथा चारों ओर की दिशाओं में गमन, आगमन एक विशेष परिमाण के अन्तर्गत स्वीकार करेगा। जैसा कि गृही द्वारा व्रत-ग्रहण के क्षमतानुरूप स्वीकार क्रम के विवेचन के प्रसंग में कहा गया है कि वह (गृहस्थ व्रती) व्रत स्वीकार में अपवादों का जिस रूप में ग्रहण करता है, वे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं, उसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह इस (दिशा विरति या दिग्व्रत नामक गुणव्रत) में भी सीमाकरण या परिमितीकरण का आधार वैसा ही स्व-स्व-क्षमता आधृत है।

इस गुणव्रत का अभिप्राय यह है कि मानव की विस्तारोन्मुख आकांक्षाएँ एक सीमा, व्यवस्था या नियन्त्रण में आएँ। यों यह साधक के संयमात्मक गुण को बढ़ाता है, इसलिए इसका गुणव्रत नाम अन्वर्थक है।

अनर्थ दण्ड-विरति—दण्ड का अर्थ हिंसा या दूषित आचरण है। कई ऐसे प्रसंग होते हैं कि गृही को अनिवार्य तया हिंसा करनी होती है। यद्यपि हिंसा तो हिंसा ही है, पर वहाँ उस गृही का लक्ष्य हिंसा करना नहीं है, अपना आवश्यक कार्य करना है, जिसके बिना वह नहीं रह सकता। इसलिए इस प्रकार की हिंसा सार्थक कही जाती है। सार्थक से यह न समझ लें कि वह उपयोगी या निर्दोष है। केवल इतना ही समझना होगा कि बाध्यतावश उसे करना होता है, जिसके लिए गृही को किसी अपेक्षा से (गृहस्थ के अनिवार्य कर्त्तव्य के नाते) क्षम्य माना जा सकता है। फिर कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो किसी भी अनिवार्य प्रयोजन के बिना हिंसा आदि पाप कार्य करते रहते हैं। ऐसे कार्य अनर्थ-दण्ड के अन्तर्गत आते हैं। जैन शास्त्रों में इसे चार प्रकार का बताया है—(१) अपध्यान—बुरा चिन्तन, (२) प्रमादपूर्ण आचरण, (३) किसी को हिंसा के उपकरण आदि देना, (४) किसी को पाप-कार्य करने का उपदेश देना।

देशावकाशिक—तीसरा गुणव्रत देशावकाशिक नाम से अभिहित हुआ है। इसके पीछे यह भाव है कि जिस देश या स्थान में जाने से गृही साधक या श्रावक का कोई व्रत भंग होता हो या उसमें दूषितता आती हो, उस स्थान में न जाया जाए। अर्थात् श्रावक उधर जाने से निवृत्त होता है।

गुणव्रतों की संरचना से यह स्पष्ट है कि अणुव्रतों के माध्यम से आगे बढ़ता हुआ श्रावक इनके (गुणव्रतों के) द्वारा विशेष स्फूर्ति प्राप्त करता जाता है। कर्म, पद्धति, चिन्तन—इन तीनों का समन्वित स्वीकार गृही की गतिशीलता में एक विशेष प्रेरणा उत्पन्न करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचने पर लगता है कि अणुव्रतों के साथ-साथ गुणव्रतों का परिगठन जैन मनीषियों की सूक्ष्म सूझ का परिचायक है।

साधना का उत्कर्ष : शिक्षाव्रतों की विशेषता

गुणव्रतों के पश्चात् शिक्षाव्रतों के नाम से चार व्रत और निर्दिष्ट हुए हैं। वैसे इन्हें शिक्षाव्रत कहे जाने के पीछे संभवतः यह भाव रहा हो कि इनके परिपालन से गृही का व्रताभ्यास बढ़ता जाए। चार शिक्षाव्रत इस प्रकार हैं—(१) भोगोपभोग का परिमाण, (२) सामायिक, (३) पौषधोपवास, तथा (४) अतिथि संविभाग।

भोगोपभोग-परिमाण—भोग ही संसार में वह वस्तु है, जिसका आकर्षण मानव को उसकी आत्म-स्थिति से विचलित कर उसे बहिर्मुख बना देता है। फलतः मानव संग्रह और संचय में जुट जाता है। जहाँ धन का संग्रह ही लक्ष्य हो जाता है, वहाँ औचित्य, अनौचित्य, न्याय, अन्याय, नीति, अनीति आदि का भाव स्वयं अपगत हो जाता है। यह मानव की प्रमत्त या उन्मत्त दशा है, जहाँ विवेक कुण्ठित रहता है। इस वैकारिक विस्तार का मुख्य हेतु भोग-लिप्सा है। एक साधनोन्मुख गृही की लिप्सा मिटनी चाहिए, यह आवश्यक है, यह शिक्षाव्रत इसी विचार-बिन्दु पर आधृत है। इसके अनुसार साधक अपने भोग्य-उपभोग्य पदार्थों का सीमाकरण करता है। इसका एक लक्ष यह भी है कि अपने अन्यान्य कार्यों या व्यवसायों का भी परिसीमन करता है, जिनका भोगपरक अथवा हिंसापरक जीवन से सीधा सम्बन्ध है।

सामायिक—गृही साधक अंशतः व्रत पालन करता है पर, उसका अन्तिम लक्ष्य निरपवाद व्रतमय जीवन का स्वीकार है। सामायिक, अल्पकालिक ही सही, अध्यात्म-अभ्यासक्रम का एक ऐसा दिव्य प्रयोग है, जहाँ साधक भोग एवं हिंसा आदि अकरणीय कार्यों से विरत रहता हुआ आत्म-रस की अनुभूति की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है। अर्थात् कुछ समय (कम से कम एक मुहूर्त्त) के लिए वह एक साधु का सा जीवन अपनाता है। वहाँ उसके व्रत-स्वीकार की भाषा बनती है—मैं सभी सावद्य योग-पापपूर्ण प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान करता हूँ।

सामायिक शिक्षाव्रत संघटना के पीछे गम्भीर तात्त्विक चिन्तन है। थोड़ी देर के लिए ही सही, श्रमण-जीवन की अनुभूति का यह सुन्दर उपक्रम है। यदि इसमें तन्मयता बढ़तीं जाय, रसानुभूति होती जाय तो एक दिन ऐसा भी हो सकता है कि वह (साधक) स्वतः समग्र भौतिक एषणाओं का परित्याग कर सम्पूर्णरूपेण साधना-रत हो जाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पौषधोपवास व्रत—इस व्रत का आशय जीवन में तितिक्षा-क्रम को बढ़ाना है। मौगिक जीवन से सम्पूर्ण विरति सध सकने के चरम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने के अभ्यास का यह एक प्रशस्त चरण है। आहार, देह-सज्जा अब्रह्मचर्य तथा आरम्भ-समारम्भ का त्याग—ये इसके अन्तर्गत हैं।

बाह्य पदार्थों के परित्याग के पीछे मुख्य भाव यह है कि व्यक्ति अधिकाधिक आत्मानुगत हो सके। जीवन में 'स्व' और 'पर' इन दो का ही संघर्ष है। मानव जितना परमुखापेक्षी होता है, उतना ही वह 'स्व' से विमुख होता जाता है। साधना की चरम सिद्धि तो वह है, जहाँ 'स्व' के अतिरिक्त समग्र पर-भाव विजय पाले। पर-भाव से क्रमशः हटते जाना, स्व-भाव की ओर बढ़ते जाना-यह एक सरणि है, जिससे साधक अपनी आखिरी मंजिल तक सहजतया पहुँच सकता है। पौषधोपवास व्रत, चाहे अल्पसामयिक ही सही, इस दिशा की ओर एक जीवित अभियान है। इसकी संरचना के पीछे भी एक बहुत ही चिन्तनपूर्ण मनोवैज्ञानिक आधार रहा है। क्योंकि कुछ असाधारण व्यक्तियों की बात और है, साधारण व्यक्ति सहसा किसी परमोच्च ध्येय या स्थान को नहीं पा सकता। उसके लिए क्रमिक विकासमय सोपान-मार्ग चाहिए, जिससे वह अभ्यासनिरत होता हुआ क्रमशः उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी होता जाए।

अतिथिसंविभाग-व्रत—इस शिक्षा-व्रत में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना अन्तर्निहित है। अतिथि शब्द के साथ यहाँ संविभाग शब्द का प्रयोग हुआ है, दान का नहीं इसका आशय यह है कि अतिथि का भी एक प्रकार से एक गृहस्थ के यहाँ अपना भाग है, इसलिए गृही उसे जो देता है, उसमें विशेषतः श्रद्धा और आदर का भाव बना रहता है। धार्मिक दृष्टि से यह पुण्यबन्ध का हेतु तो है ही पर वस्तुतः इसका शब्द-चयन बड़ा मनोवैज्ञानिक है। इससे न तो देने वाले में अहंभाव उत्पन्न होता है और न लेने वाले में किसी तरह का हीन भाव। अपरिचित का ससम्मान सहयोग करने की बहुत ही स्वस्थ परम्परा यह है। आश्चर्य है, आध्यात्मिक के साथ-साथ कितनी मनोवैज्ञानिक व सामाजिक सूझ-बूझ इसके संरचयिताओं में थी।

जैन परम्परा की दृष्टि से इस व्रत के अन्तर्गत दो प्रकार के गृहीता आते हैं—(१) श्रमण या भिक्षु, (२) अन्य आगन्तुक, जिनके आने की कोई तिथि या निश्चित समय नहीं अर्थात् वे अपरिचित व्यक्ति, जो चाहे जब आ जाएं, श्रमण तो ठीक हैं पर सामान्य आगन्तुक जनों का सेवा-सत्कार करना भी व्रतात्मक साधना में स्वीकृत किया गया है, यह विशेष महत्त्व की बात है।

सप्त कुव्यसन : प्रत्याख्यान : आत्म-संयमन

कुत्सित कार्यों से बचाये रखने के लिए जैनाचार्यों ने सात कुव्यसनों के त्याग का विशेष उपदेश किया है। कहा गया है—

> जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धिचोर परयारं।
> दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥[१८]

द्यूत (जुआ), मदिरा माँस, वेश्या, आखेट, चोरी तथा परस्त्री—इनका सेवन ये सात कुव्यसन हैं। ये दुर्गति-गमन के हेतु हैं।

ऊपर श्रावक के व्रत, आचार आदि का जो विवेचन हुआ है, उसके परिप्रेक्ष्य में यदि इन कुव्यसनों पर दृष्टि-पात करें तो प्रतीत होगा कि उन्हीं का कुछ विशदीकरण, स्पष्टीकरण या विस्तार इनमें है। कुत्सित कार्यों के वर्जन द्वारा सात्त्विक कार्यों के स्वीकार की ओर गृही साधक को प्रवृत्त करने का इनमें एक मनोवैज्ञानिक प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। संक्षेप में कहा जाए तो बात लगभग एक जैसी है पर, ग्राह्यता, अग्राह्यता के आशय से विभिन्न आकर्षक रूपों में उसे प्रकट किया गया है, जो वास्तव में बहुत उपयोगी है। साहित्य में जहाँ पौनःपुन्य अनाहत है, आचार में वह नितान्त उपयोगी है। क्योंकि मनुष्य स्वभावतः सुविधाप्रिय है। जहाँ भी व्रताचरण में उसे कठिनाई लगती है, उसके विचलित होने का भय बना रहता है। बार-बार कहे जाते रहने से वह फिसलन की बेला में जागरूक रह सकता है। और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो इसे यों समझा जा सकता है कि साधक को प्रतिक्षण जागरूक तथा व्रत-पालन में सन्नद्ध बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार से उसे शिक्षाएँ दी जाती रही हैं। प्रकार की भिन्नता या विविधता से निरूपण या कथन अनाकर्षक नहीं बनता। इसीलिए कहीं मूल गुणों के रूप में, कहीं कुव्यसनों के रूप में, कहीं अतिचारों के रूप में कहीं गुणव्रतों के रूप में, कहीं शिक्षाव्रतों के रूप में श्रावक को उपदिष्ट किया जाता रहा है, जिसका एक ही अभिप्राय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, अपने द्वारा गृहीत अणुव्रत मूलक चारित्र्य-पथ पर वह उत्तरोत्तर गतिशील रहे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सब उसके लिए एक सम्बल या पाथेय है, जिनके कारण उसकी गति में अवसन्नता या कुण्ठा नहीं व्यापती।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि श्रावक के लिए प्रतिक्रमण की जो संरचना है, उसका उसके जीवन को अध्यात्म-प्रगति में अग्रसर बनाये रखने में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। आत्म-चिन्तन, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि के संपुटपूर्वक अपने द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप में आचरित पाप-कार्यों के पश्चात्ताप का जो क्रम उसमें है, उपासक को पुनः उधर जाने से रोकने में निश्चय ही बड़ा उत्प्रेरक है तथा उसे आत्म-प्रकर्ष की ओर ले जाने में सहायक।

उपसंहार

वैदिक बौद्ध, आदि अनेक धर्मों की साधना-पद्धतियों के सन्दर्भ में जैन गृही उपासक की साधना पर अनेक दृष्टियों से प्रस्तुत निबन्ध में विचार उपस्थित किये गये हैं। इस सन्दर्भ में यह कहना अतिरंजित नहीं होगा कि गृही की आचार-संहिता में परिष्कार-संयोजन की दृष्टि से साधना-जगत् में जैन आचार-संघटकों की निःसन्देह यह अप्रतिम देन है।

गृही उपासक की आचार-संघटना में दार्शनिक किंवा तात्त्विक दृष्टिकोण के साथ-साथ मनोवैज्ञानिकता का भी पूरा ध्यान रखा गया है, जिससे वह (आचार-संहिता) केवल आदर्श रूप न रहकर व्यवहार्य हो सके, उपासक के जीवन में क्रमशः संयम की दृष्टि से एक व्यवस्था, नियमानुवर्तिता तथा प्रगतिशीलता आ सके। विकल्प या अपवाद-स्वीकार की अपनी अनुपम सरणि इसका उदाहरण है। वस्तुतः कोई भी दर्शन सही माने में तभी सार्थक कहा जा सकता है, जब वह अपने अनुयायियों के जीवन में अपना क्रियान्वयन पा सके। वैसे वैदिक ऋषियों, बौद्ध आचार्यों व भिक्षुओं ने भी जीवन-शुद्धि या आत्म-विकास के सन्दर्भ में काफी महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं पर, जब हम दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दृष्टि से तुलनात्मक रूप में विचार करते हैं तो निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि इन चिन्तन-धाराओं में गृही की आचार-संहिता के प्रसंग में जैन चिन्तन का अपना एक वैशिष्टय है। सिद्धान्त और व्यवहार पूर्व व पश्चिम की तरह विपरीतमुखी न रहकर समन्वय एवं सामंजस्य के सूत्र में पिरोये रहें, इसे आवश्यक मान जैन मनीषियों ने सिद्धान्त-सत्य के साथ-साथ व्यवहार-सत्य या आचार-सत्य का विविध रूपों में तलस्पर्शी प्रतिपादन किया है।

जैनधर्म में स्वीकृत व्रत-संघटना पर और अधिक सूक्ष्मता तथा गम्भीरता से विचार किया जाना अपेक्षित है। क्योंकि वहाँ जिन तथ्यों का स्वीकार है, वे किसी वर्ग-विशेष से सम्बद्ध न होकर विश्व मानवता से सम्बद्ध है। युगीन सन्दर्भ में आज उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्वजनीन व्याख्या की जानी चाहिए। यदि समीक्षक विद्वानों एवं बहुश्रुत श्रमणों का इस ओर ध्यान गया तो आशा की जा सकती है कि इस सम्बन्ध में अनेक मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष प्रकट होंगे, जो विश्व में संप्रवृत्त आचार परिष्कार तथा जन-जन के आध्यात्मिक जागरण सम्बन्धी अभियानों के लिए बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे।

---

१ यजुर्वेद ३६, २३।
२ तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली १, अनुवाक ११
३ तैतिरीयोपनिषद् वल्ली १, अनुवाक ११
४ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ६८
५ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ६९
६ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ७०
७ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ९२
८ गीता अध्ययन २, श्लोक ४७, ४८
९ वैशेषिक दर्शन १. १. २
१० ईसाई धर्म क्या कहता है ? पृष्ठ २०-२२
११ सिक्ख धर्म क्या कहता है ? पृष्ठ १५
१२ पारसी धर्म क्या कहता है ? पृष्ठ १३
१३ इस्लाम धर्म क्या कहता है ? पृष्ठ १०
१४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।—तत्त्वार्थसूत्र १.१
१५ हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।
देशसर्वतोऽणुमहती। —तत्त्वार्थसूत्र ७. १, २
१६ तत्त्वार्थसूत्र ७.२०
१७ तत्त्वार्थसूत्र ७, २१-२४
१८ वसुनन्दि-श्रावकाचार ५९

□

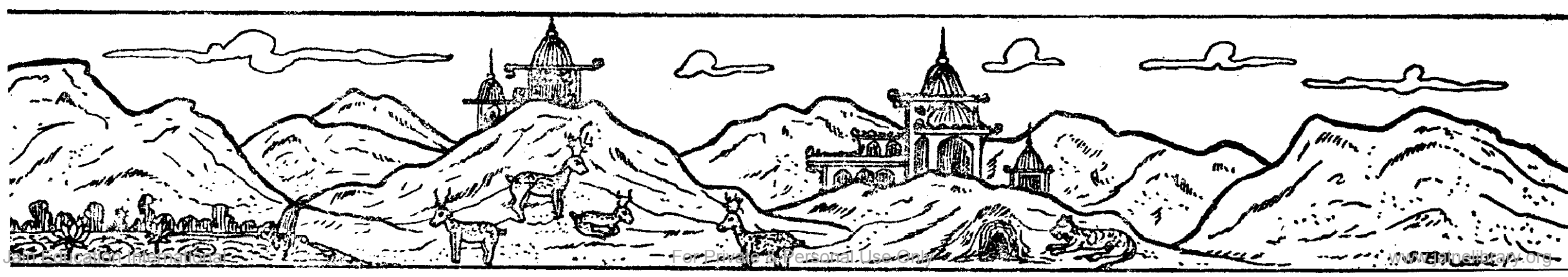

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org